तथा कविता के प्रसंग में कविता, अतिरिक्त नहीं

प्रफुल्ल कोलख्यान

विनोदकुमार शुक्ल ऐसे समय के कवि हैं जिस समय में किसी भी आदमी की चिंता का एक छोर 'बचाकर रख लेनी चाहिए हवा' की न सिर्फ पर्यावरणीय संवेदना से बल्कि जीवन-संवेदना से भी जुड़ती है। घटते-घटते जीवन इतना ही बचा है कि भरपूर जीवन की लड़ाई के लिए, जीवन का कितना, और कैसा बचा होना चाहिए यही मुख्य सवाल बन गया है। विनोदकुमार शुक्ल ऐसे समय के कवि हैं जिस समय 'जंगल के उजाड़ में' विकट प्रश्न यह उपस्थित हो गया है कि भूख से बेहोश पड़े आदमी को प्राथमिक उपचार के लिए अस्पताल ले जाना चाहिए या रसोईघर? 'तथा' विनोदकुमार शुक्ल ऐसे अ-सामाजिक समाज के कवि हैं जिसमें घर के लोगों का घर से संबंध नहीं है! ऐसे कठिन समय और समाज के कवि का कविकर्म कितना कठिन और उसके पाठकों के लिए कितना त्रासद और तोड़नेवाला हो सकता है इसका एहसास उसी को हो सकता है जो इन कविताओं के पाठ और परिपाठ से जुड़ने के लिए इस तुमुल कोलाहल भरे समय में अपने लिए एक थोड़ा-सा निजी एकांत जुगाड़ कर सके। 'मनोरंजन', 'ब्रह्मानंद सहोदर' और 'सृजन का सुख' ऐसे समय के न तो कवि को नसीब होता है और न पाठकों को! सच है कि भूखों का कोई धर्म नहीं होता और सच यह भी है कि भूखों का कोई सीधा और पूर्व निर्धारित विचार भी नहीं होता। भूखों का अस्पताल ही नहीं मंदिर और स्कूल भी रसोईघर ही हो सकता है। भूख से बिलबिलाते ऐसे ही कठिन समय में नागार्जुन की पीड़ा याद आती है कि 'क्या है दक्षिण क्या है वाम? जनता को रोटी से काम'। आज का समय इतना रिक्त है कि किसी के पास किसी के लिए कुछ भी 'अतिरिक्त नहीं' है।

'अतिरिक्त नहीं' विनोदकुमार शुक्ल का तीसरा काव्य संकलन है। तीन उप-खंडों में संकलित इस संकलन की कविताएँ विनोदकुमार शुक्ल की काव्य-चेतना के विकास के सातत्य को तो सूचित करती ही हैं, उनकी काव्य-चेतना के पीछे सक्रिय सामाजिक कारणों को भी उद्घाटित करती हैं। हिंदी कविता की दुनिया में विनोदकुमार शुक्ल की कविता की अपनी अलग पहचान है। पहचान ही नहीं अपनी रीति भी है। रीति अर्थात उनकी कविताओं के संभव

होने की अपनी शैली है। यह रीति न तो एक दिन में तैयार हुई है और न एक-दो छिटपुट कविताओं तक ही सीमित है। महत्त्वपूर्ण यह नहीं है कि विनोदकुमार शुक्ल की कविता की रीति समकालीन हिंदी कविता की भी एक पद्धति बनाती है या नहीं। महत्त्वपूर्ण यह है कि विनोदकुमार शुक्ल की कविता हिंदी कविता के संभव होने के एक वैकल्पिक पथ को सिद्धांत के नहीं, सृजन के सहारे अनायास ही प्रस्तावित करती है। इस प्रस्ताव का अनायास होना महत्त्वपूर्ण है। साहित्य हो या कि जीवन के किसी भी क्षेत्र में अधिकाधिक लोगों को अपने पथ पर सहचर, या कभी-कभी अनुचर के रूप में भी पा लेने का आग्रह हमें प्रयासोन्मुखी बनाता है। ऐसे प्रयासोन्मुख दबाव और खिंचाव से विभिन्न नाम-गुण-धर्मवाले आंदोलनों का जन्म होता है। विनोदकुमार शुक्ल की कविता में यह प्रयासोन्मुखता सृजन के स्तर पर तो नहीं ही है, सृजन के प्रसार के प्रसंग में भी अपने न्यूनतम स्तर पर ही है। अपने इसी अनाग्रही स्वभाव के कारण विनोदकुमार शुक्ल की कविता हिंदी कविता के संभव होने के वैकल्पिक पथ का अन्वेषण तो करती है लेकिन किसी भी प्रकार की आंदोलन-धर्मिता से युक्त नहीं होती है। इसे विनोदकुमार शुक्ल की कविताओं की समाज निरपेक्षता या विचारहीनता के लक्षण के रूप में चिह्नित करने का प्रयास कविता की समाज-सापेक्षता और विचार-संबद्धता की नैसर्गिक प्रक्रिया की अवहेलना ही होगा। इस प्रकार की अवहेलना का खामियाजा हिंदी साहित्य को कम नहीं उठाना पड़ा है। इसलिए इस प्रकार की अवहेलना से अब सावधानीपूर्वक बचना चाहिए। कविता या किसी भी अभिव्यक्ति का स्वाभाविक लक्ष्य अपने खुद और अपने से इतर लेकिन अपने ही तरह के अन्य लोगों के साथ-साथ वैचारिक रूप से भिन्न लोगों को भी किसी-न-किसी स्तर पर संवेदित, संबोधित, शामिल और सहमत करना होता है। अभिव्यक्ति अन्य लोगों तक संप्रेषित होकर ही संपुष्ट हो पाती है। एक ऐसे असामाजिक समय में जब असहमति और असुविधाजनक बात पर कान नहीं देने के मनोभाव अर्थात, असूयापन की बढ़त राजनीतिक कौशल से बहुत आगे बढ़कर सामाजिक प्रवृत्ति एवं जीवन-शैली के रूप में भी बद्धमूल होती जा रही हो और जब मंत्र तथा नारे दोनों ही अपना कार्यार्थ खो चुके हों तब संवेदनशील कवि के पास आत्म-संबोधन के मार्ग पर चलने के कठिन चयन के अलावे विकल्प भी क्या बचा रह जाता है? अभिव्यक्ति के ऐसे ही कठिन प्रसंग में संत कवि गोस्वामी तुलसीदास ने कवि-कर्म के मर्म को बचाने के लिए 'स्वांत:सुखाय' का सहारा लिया होगा। कहने की जरूरत नहीं है कि तुलसीदास जैसे कवि का जीवन एवं कवि-कर्म न तो 'स्वांत' से सीमित होता है और न 'सुखाय' को ही समर्पित होता है। 'तथा मैं परोक्ष हूँ' में अभिव्यक्ति के ऐसे ही कठिन प्रसंग में, विनोदकुमार शुक्ल कविता--- 'अपने से कहते हैं', जो सुनाई देती है वह प्रतिध्वनि होती है, जिसे वे अपने से कहते हैं। प्रतिध्वनि का सुनाई देना उनकी किसी एक कविता का ही सच न होकर उनकी समग्र काव्य-चेतना का भी सच है। समाज में असूयापन के बढ़ते दबाव से अर्थ-शून्यता एवं शब्द-हीनता का जन्म होता है। 'रात को याद करता हूँ' जैसी कविता के मर्म को समझा जाये तो बात पकड़ मे आती है कि क्यों शब्दहीनता में, किसी भी कविता के पहले विनोदकुमार शुक्ल मुक्ति को, मुक्तियों में दुहराते हैं ध्वनिश:, जो झुंड में उड़ जाता है। किसी

एक या एकार्थी एवं इकहरी मुक्ति की अवधारणा से हमारी संवेदना को बचाते हुए किसी भी कविता के पहले मुक्ति नहीं मुक्तियों में दुहराने की जरूरत के कहने और सुनने की शृँखला के अंतर्गत 'जब बात यहीं समाप्त नहीं होती' में विनोदकुमार शुक्ल सहज ही परख लेते हैं कि उनके काव्य-समय में विशिष्ट लोगों में सुनने का धैर्य छीजता ही जा रहा है। कोसल में विचारों की कमी को महसूस करनेवाले श्रीकांत वर्मा की 'मगध' कविता में यह बात रेखांकित है कि सुने जाने का रिवाज खत्म हो जाने पर सोचे जाने के अभाव का हाहाकार ही बचता है। हालाँकि, केदारनाथ सिंह की 'बाघ' कविता में नगरवासी सोचते हुए पाये जाते हैं--- नगरवासी सोचते हैं, भले ही सोचते हुए कभी-कभी करुणा को कंबल की तरह ओढ़ लेते हैं, मगर सोचते हैं। इसलिए, विनोदकुमार शुक्ल की काव्य-चेतना का स्वाभाविक मर्म यही है कि 'जो सब कह रहे थे, वे सब बुद्ध नहीं थे, जो अकेला सुन रहा था, वही बुद्ध था' और इसके साथ ही 'तथा आश्चर्य' में यह भी कि जो सुन रहे थे, उनकी भीड़ लगी थी, और वे सबके सब बुद्ध थे, बड़े-बूढ़े, स्त्री-पुरुष, और बच्चे भी; बच्चे भी सिद्धार्थ नहीं थे, बुद्ध थे।' यह भीड़ विशिष्ट लोगों की नहीं आम लागों की ही प्रतीति कराती है। कहने की जरूरत नहीं है कि जिस प्रकार तुलसीदास के 'स्वांत:सुखाय' में किसी भी प्रकार के सामाजिक निषेध के लिए कोई गुंजाइश नहीं थी उसी प्रकार विनोदकुमार शुक्ल की कविता में भी किसी भी प्रकार की सामाजिकता या साहित्य के सामाजिक दायित्व से बचने का कोई भाव-बोध कत्तई नहीं है। हालाँकि, ऐसा होने के खतरे कम नहीं थे! और नहीं तो, विनोदकुमार शुक्ल का कवि-मन 'दुनिया में अच्छे लोगों की कमी नहीं है' में इस बात को रेखांकित ही नहीं कर पाता कि दुनिया में अच्छे लोगों की कमी नहीं है और न बार-बार यही कह पाता कि कितना समय बीत गया है बावजूद इसके लौटकर वे घर नहीं, घर-घर पहुँचना चाहते हैं, और चले जाते हैं। विनोदकुमार शुक्ल का यह अच्छा आदमी उनके मनोजगत का प्राणी न होकर हमारे समाज में जनमा और पला-पुसा सामाजिक आदमी है, भले ही किसी स्तर पर वह असहाय और निष्प्रभ ही क्यों न दीखता हो। इसे आसानी से पहचाना और अपनाया जा सकता है। '-कि कुछ दिनों तक' में यह अच्छा आदमी ऐसा आदमी है कि अधिकतर लोगों ने उसे बुरा कहा, न्यायपालिका ने बल्कि हत्यारा भी, ध्यान देने की बात यह है कि कवि को जितना उस आदमी के अच्छे होने पर विश्वास था, उतना विश्वास सत्ता और सर्वोच्च न्यायपालिका पर कभी नहीं था। वह एक गरीब आदमी था। इस समय हमारे, अर्थात पूरी मानव सभ्यता और संस्कृति के साथ-साथ हिंदी समाज के, समय बोध में बड़ी तेजी से हो रहे चारित्रिक बदलाव को सहज ही लक्षित किया जा सकता है। कहीं इसे सभ्यताओं का संघात कहा जा रहा है तो कहीं इसे घायल सभ्यता की आहत भावनाओं का प्रकटीकरण तो कहीं कुछ और भी। लेकिन जो बात शरद के आकाश की तरह साफ है वह यह कि यह सब कुछ परम गरीब अर्थात, 'एब्स्युलेट पुअर' के मनुष्य बने रहने के लिए अनिवार्य न्यूनतम पूँजी के भी सत्व-हरण की कीमत पर हो रहा है। सभ्यताओं का संघात हो या घायल सभ्यता की आहत भावनाओं का प्रकटीकरण या परम गरीब आदमी के आदमी बने रहने के लिए अनिवार्य न्यूनतम पूँजी के भी सत्व-हरण की ही प्रक्रिया क्यों न हो

इसके पीछे निर्विशिष्ट मनुष्य के हित की हर नई चीज को तुरंत पुरानी बना देने और बहुत पुरानी अहितकारी चीजों की प्रासंगिकता को बहाल करने की प्रचेष्टा सहज पठनीय है।

'एक अप्रत्याशित दिन में' प्रवेश करने पर सहमत हुआ ही जा सकता है कि यह निश्चित ही लगातार पूर्वज होने का समय है। लगातार पूर्वज होने के समय में पितामह! परपितामह!! पुकारने वाले दिन को, पा लेने के लिए विनोदकुमार शुक्ल आगामी दिनों में, शीघ्रता से प्रवेश करते हैं तो आगामी के संगामी बन जाने की पीड़ा के मर्म को समझना ही होगा। 'मनुष्य सभ्य है' की सभ्यता में युगों का हिमालय युग से, विस्थापित होकर, आज के दिन आजकल इस तरह है, कि चित्र में शराणार्थियों के टेंट का आकार, त्रिभुज जैसा लगता है, और त्रिभुज का शीर्ष एवरेस्ट है। हमारे समय में शरणार्थियों के इसी टेंट में हिमालय रहता है। जब मनुष्य की आबादी का बड़ा अंश दुनिया में शरणार्थी बन जायेगा तो शरणार्थी शिविर के त्रिभुज का शीर्ष एवरेस्ट न होगा तो क्या होगा? यह स्थापित मान्यता है कि इच्छा-स्वातंत्र्य के बिना नैतिकता का कोई आधार ही नहीं बनता है। सर्ववर्चस्वादी सत्ता इच्छा-स्वातंत्र्य की हर संभावना को संकुचित करती हुई नैतिक प्रसंग को जीवन से अनुपस्थित करती है और अंतत: उसे शरणार्थी शिविर की बेचारगी में धकेल देती है। ऐसे में सत्ता और सर्वोच्च न्यायपालिका पर कवि को विश्वास हो भी कैसे सकता है?

हमारे समय का काल-बोध सिर्फ आगामी को ही संगामी नहीं बनाता है बल्कि बड़ी तत्परता से विगत का भी स्वागत करता है। इससे जो अँधेरा बढ़ रहा है वह साधारण अँधेरा नहीं है। 'आदिम रंग' से साफ है कि पृथ्वी पहली बार अंधकार से आच्छन्न नहीं हुई है। लेकिन इस बार का अँधेरा पहले के अँधेरे से बहुत भिन्न और खतरनाक है क्योंकि, पृथ्वी अंधकार में, पहला पुरुष अकेला नहीं था, न पहली स्त्री। सूर्योदय का रंग, अंधकार में, दोनों के साथ होने से बन रहा था। और आज? साथी पाना ही तो असंभव होता गया है। जैसा कि हम 'हताशा से एक आदमी बैठ गया था', में व्यक्ति को नहीं जानते अधिक-से-अधिक उसकी हताशा को जानते हैं। व्यक्ति को नहीं जानते हाथ बढ़ाने को जानते हैं। एक दूसरे को अर्थात, साथी को नहीं जानते, अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि साथ चलने को जानते हैं। व्यक्ति को या एक दूसरे को जाने बिना बहुत दिन तक और बहुत भरोसे से न तो हताशा को जाना सकता है, न हाथ बढ़ाने को और न ही साथ चलने को। लेकिन फिलहाल हमारी सामाजिक स्थिति यही है, इससे कौन इनकार कर सकता है? 'उस अधूरे बने मकान' के पीछे 'झाँकें तो इस बार जो अँधेरा हुआ वह आठवीं शताब्दी के अँधेरे की तरह का है, इसमें कवि को लगता है कि वही चाय की दुकान होगी। उसके पुराने दरवाजे को वह खटखटाता है। दरवाजा खुलता है। यह दरवाजा भी मंदिर का है। इस अँधेरे को चीरती हुई एक गरीब छोटी लड़की, ढिबरी लिये खड़ी है, यह एक छोटा-सा बहुत गरीब शिव का घर है। पौराणिक मान्यताओं में शिव को गरीब (और शायद गरीबों के) देवता के रूप में चिह्नित किया गया है, लेकिन विनोदकुमार शुक्ल की कविता में एक नया अर्थ है जो शिव के ही नहीं शिवत्व के भी गरीब हो जाने की

त्रासदी को रेखांकित करता है। यह भी कि बुझे हुए सूरजों के इस तमसावृत्त समय के अँधेरे को गरीब शिव की छोटी लड़की की ढिबरी ही कम कर सकती है।

'कोई नहीं है का अंतहीन एकांत है' में कवि फटेहाल मनुष्यता को सीने की संवेदना के साथ, गरीबी रेखा की तरह इस साफ दीख रही क्षितिज रेखा को धागे की तरह लपेटकर एक गोला बनाने की उधेड़बुन सा करता खुले में खड़ा है। सावधान संवेदना के कवि को कविता की सामाजिक विश्वसनीयता और ग्राह्यता में निरंतर हुए क्षरण के कारण खुले में खड़े होने के भ्रम का यह धागा कम न पड़े का भ्रम होता है। पृथ्वी पर बस एक फेरा लिपटा क्षितिज धागा कई फेरे लिपटा होता तो विस्तार की नग्नता को ढँके का जाने का भ्रम पुख्ता हुआ होता। परम गरीबी की एक रेखा की जगह सापेक्ष गरीबी की कई रेखाओं के धागों के कई फेरों से यह सभ्यता लिपटी होती तो इसके विकास के विस्तार की नग्नता को ढँके जाने का भ्रम पुख्ता हुआ होता! तभी, सांध्य-सूर्य को पृथ्वी समझकर कवि मंत्र की तरह बड़बड़ाता है कि पृथ्वी, कोसाफल की तरह हो और क्षितिज-रेखा एक रेशमी किरण जिसको रेशमी धागे की तरह पकड़ कर जैसे एक बहुत बूढ़ा बुनकर रेशम बुनने की तैयारी कर रहा हो। कवि की इस शुभाकांक्षा के फलितार्थ को हासिल करने में जब उसका सबसे मजबूत और विश्वसनीय आधार शब्द ही नि:शब्द हो गया हो और वह कथनातीत को कथनीय बनाने के लिए भाषा को तोड़ते और गूँधते हुए मुलायम से मुलायमतर बनाने के दायित्वबोध से संवेदना और सृजन के स्तर पर अवगत हो तो स्वाभाविक ही है कि 'यहाँ तक आने की दूरी को' संदर्भ में लेते हुए वह अलख को लखना और देखना चाहे तथा उस अलख के होने में अपने को भस्म कर डालने एवं माथे पर प्रेम का भभूत लगाने को, समाज में प्रेम के बचा पाने के एक उपाय के रूप में, उसके महत्त्व को फिर से अर्जित करना चाहे। स्वभावत: 'दर्शन के स्थान पर भीड़ लगी है' जिस में वह माथे पर भभूत लगाए सम्मुख हो जाना चाहे उसी के होने के एकांत में अपने को भस्म कर डालने के संकल्प के साथ। विडंबना यह कि 'ईश्वर अब अधिक है', सर्वत्र अधिक है, निराकार साकार अधिक, हरेक आदमी के पास बहुत अधिक है। ईश्वर अर्थात ऐश्वर्य, से संपन्न सामाजिक रूप से सर्वशक्तिमान बने नाना रूप-रंग के ईश्वरों की आज क्या कमी है! हमारे जीवन में ऐसे ईश्वरों का दखल बढ़ता ही जा रहा है। विनोदकुमार शुक्ल की कविता ईश्वर की इस प्रचुरता का गहरा एहसास कराती है!

विनोदकुमार शुक्ल की कविता बहुस्तरीय और बहुर्थी परिवेश की असहज निमिर्ति और इस असहजावस्था में विकसित संदेहाकुल मन:स्थिति से घिरे एक ऐसे 'मिसफिट' व्यक्ति के मनोवेग से निकली कविताएँ हैं जिसके लिए पूरा जीवन-चक्र ही असहज कथ्य है। इस 'मिसफिटनेस' और असहजता को समझे बिना विनोदकुमार शुक्ल की कविता को समझने का कोई भी प्रयास पाठक को भी अपनी असहजावस्था में लपेट लेता है। मुश्किल यह है कि इस असहजता या अटपटेपन की परिधि में और चीजों के साथ-साथ कवि का भाषा-बोध और भाषिक सरोकार भी शामिल है। भाषा के साथ आंतरिक बरताव का यह पक्ष प्रतीति के स्तर पर असहजता का एहसास कराता है और इस एहसास को भी सहज नहीं रहने देता है।

देखना दिलचस्प और जरूरी भी होगा कि क्या यह सिर्फ एक ऐसे संवेदनशील नागरिक या व्यक्ति की वैयिक्तक मानसिक बुनावट और कार्यविधि का उदाहरण है जिसका कुछ भी न तो उसके अनुकूल ठहरता है, न उपयुक्त, न किसी भी प्रकार से पर्याप्त, जिसका सब कुछ तदर्थ बना हुआ है और जिसके लिए सब कुछ अजूबा ही नहीं अव्यवस्थित एवं अस्त-व्यस्त होकर रह गया है या यह कवि की संवेदना का वह पक्ष है जो उसकी सामाजिक असहजता और अटपटेपन की वास्तविकता के स्वाभाविक काव्यात्मक प्रतिफलन को भी प्रतिभासित करता है?

जीवन और जगत का अंतस्संबंध जब पहली बार शिशु मन में दर्ज होना प्रारंभ होता है तो इस अंतस्संबंध की जटिलताओं के संदर्भ में बहुत सारे सवाल भी उसके अंत:करण में विकसित होने लगते हैं। प्रारंभ में इन सवालों के ग्राह्य जवाब नहीं मिल पाने की स्थिति में शिशु के अंत:करण में नये किस्म की हलचल और बेचैनी पैदा होती है। इस हलचल और बेचैनी के समंजन से सामान्य व्यक्ति में दुनिया चाहे जैसी भी हो, दी गई दुनिया के अंदर अपने लिए उपयुक्त जगह बनाने और उसमें रमने के अनुकूल मन का विकास होने लगता है। कभी-कभी जीवन-यापन के स्तर पर जगह बनाने और उसमें रमने के अनुकूल मन का विकास तो हो जाता है लेकिन जीवन की सार्थकता को हासिल करने के एहसास के लिए पर्याप्त जगह बन नहीं पाती है। मन में सक्रिय इस प्रकार के द्वैध, अर्थात दो विरोधी वैधता, के साहचर्य और संघर्ष से विलक्षण व्यक्तित्व का विकास हो जाता है। इस विलक्षणता के साथ प्रतिभा के विचलन का बड़ा खतरा भी जुड़ा होता है। अति विलक्षण प्रतिभा ही विचलन के इस खतरे को झेल पाती है। विनोदकुमार शुक्ल ऐसी ही अति विलक्षण प्रतिभा के कवि हैं जो 'वृक्ष नृत्य में है आदिम मन' के साथ खुद भी वृक्ष नृत्य में, फलित युगल आदिवास करते हैं। विनोदकुमार शुक्ल की कविता हिंदी कविता के चालू विचार-बोध, भाषा-बोध, संवेदना एवं व्याकरण से बाहर खड़ी दीखती है। प्रौढ़ व्यक्ति के अंत:करण में सतत सक्रिय शिशु की जिज्ञासा के मर्म को समझने की संवेदना से विकसित पाठ और आलोचना मन एवं पद्धति ही विनोदकुमार शुक्ल की कविताई से सही अर्थ में संवाद कर सकती है। अंत में 'अतीत को स्मरण' करते हुए तपते मरुस्थल में एक हरी पत्ती मिलने का आश्चर्य मिलता है तो पत्ती के सूख जाने के बाद भी उस हरी पत्ती का आश्चर्य सहेजे समय से बुरी तरह दुर्घटनाग्रस्त होकर आज अभी की भाषा में बोलते हुए भविष्य वक्ताओं की भीड़ से दबकर भाषाविहीन कवि की चीख निकलती है। कभी धर्म और जाति के राजनैतिक, अराजनैतिक जुलूस से दबकर वह धर्मविहीन, जातिविहीन चीख चीखता है। उसकी चीख अवाक होती है जब भविष्य सी मरी हुई एक छोटी सी लड़की को पीछे के दरवाजे से, घर से बचाकर बाहर निकालते हुए एक डरी हुई माँ को देखता है। घर से बचाकर लड़की को इसलिए निकालना पड़ता है कि आसपास के सभी घरों में लड़कों के पिता बनने वाले पिता हैं, अजन्मी लड़कियों को कोख में मार डालने वाले हत्यारे पिता हैं। 'अतिरिक्त नहीं' की कविताओं को पढ़ना समय के नये काव्य-अनुभव

तथा कविता के प्रसंग में कविता, अतिरिक्त नहीं को आत्मसात करना है। पाठक सहमत होंगे कि 'अतिरिक्त नहीं' हिंदी कविता का नया काव्य-बोध है।